

THE ECONOMIC TIMES

Date: 03-12-18

A High 5 to G-20 For WTO Reform

Editorial



The just-concluded G-20 summit at Buenos Aires, Argentina, should be a source of reassurance amidst the ongoing trade war between the US and China that threatens to hurt global growth. The Leaders' Declaration reaffirmed a basic commitment to a rules-based international order, and agreed to reform the WTO. This is welcome. Reforms at the WTO, that is meant to ensure smooth trade flows, must include appointing judges to get its appellate body working to hear and resolve disputes.

Reportedly, the US is blocking appointments and that goes against the tenet of multilateralism. A tighter regime on intellectual property rights is in order. China forces foreign companies to part with IPR to access its markets. It denies foreign patent holders the basic patent right to stop a Chinese entity from using the technology after a licensing contract ends. China must stop arm-twisting and comply with WTO rules. Rightly, the declaration underscores structural reforms to enhance growth. It says monetary policy will continue to support economic activity and ensure price stability, consistent with central banks' mandates.

Fiscal policy must rebuild buffers where needed, be used flexibly and be growth-friendly while ensuring public debt is on a sustainable path. India must take note and improve the fisc. Consistently, the G-20 agreed that terrorists and tax evaders deserve no refuge. Its thrust against base erosion and profit shifting and automatic sharing of financial information is prudent. India purposefully used the forum to push for cooperation to deal with the menace of fugitive economic offenders. So, the G-20 has agreed to ratify the multilateral convention on mutual administration on tax matters. It will boost revenues. That the DNA of the G-20 stays on track is good news.

Date: 03-12-18

Agricultural Crisis Solution Outside Farming

More sops won't help politics or farmers

Editorial



Exactly 30 years after Mahendra Singh Tikait, leader of a farmers' movement from Uttar Pradesh squatted with 500,000 compatriots on New Delhi's Boat Club lawns, the capital has been rocked by another massive farmers' protest. This pan-India agrarian protest demands that Parliament convene for a three-week special session to discuss India's agricultural crisis and resolve problems that blight farmers across the hinterland. This is a reasonable ask. Between 2014 and 2017, gains in rural real wages witnessed during 2007-13 have fallen off.

Today, farm and non-farm rural wages are barely above inflation. Infrastructure has not kept pace with the needs of modern farming, input prices are high and the lack of advanced water and energy management techniques is a big drag on productivity and incomes. Rather than first aid like a loan waiver or a temporary hike in minimum support prices, the government – and farmers – must realise that any solution to the farm crisis extends well beyond agriculture policy. These include better infrastructure for seamless connectivity between farm and fork. It needs political will to charge farmers for electricity, a vital input to boosting productivity, storage and farm-based industry. It is pointless for states to offer free power, drive utilities bankrupt and force farmers to run pumps on costly diesel.

Diesel-generated power costs many times as much as grid electricity and keeps the demand for imported crude at high levels, putting pressure on the rupee and trade deficits. In many states including Punjab, Haryana, UP, Maharashtra, groundwater levels are dangerously low from reckless pumping and dependence on water-intensive crops like rice and sugarcane. Cropping patterns must adapt to resources. Water management techniques, digging ponds, recharging aquifers and efficient irrigation have a vital role to play. Tikait forced then-prime minister Rajiv Gandhi to dole out more sops. That helped neither Gandhi nor the farm sector. Thirty years on, policymakers must adopt ambitious, broad-based reforms.

Date: 02-12-18

राष्ट्रीय
सहारा

शिखर पर छाया भारत

डॉ. दिलीप चौबे

जी-20 शिखर सम्मेलन प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के पांच साल के कार्यकाल की सबसे महत्वपूर्ण और व्यापक अर्थ देने वाली कूटनीतिक बैठक है। इस बैठक में मोदी को विश्व के सबसे बड़े और परस्पर विरोधी रुख रखने वाले नेताओं के साथ वातचीत का मौका मिला है। इस आधार पर प्रधानमंत्री मोदी की विदेश नीति का मूल्यांकन भी किया जाएगा कि वह कहां सफल रहे हैं, और कहां असफल। इस शिखर सम्मेलन में दो त्रिपक्षीय बैठकें हुईं। पहली बैठक अमेरिका, जापान और भारत के बीच; और दूसरी त्रिपक्षीय बैठक रूस, चीन और भारत के बीच हुई। भारत दोनों बैठकों में शामिल हुआ।

यह वैश्विक राजनीति में भारत के महत्त्व को दर्शाता है। प्रधानमंत्री मोदी परस्पर विरोधी विचार रखने वाले और एक दूसरे से झगड़ने वाले शीर्ष नेताओं के बीच संतुलन बनाकर भारत के महत्त्व को कायम रखते हैं, यह बात इस बैठक से प्रमाणित होती है। अर्जेंटीना में तेरहवें जी-20 शिखर सम्मेलन में अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप, जापानी प्रधानमंत्री शिंजो आबे और भारतीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के बीच हुई त्रिपक्षीय बातचीत का प्रमुख एजेंडा भारत-प्रशांत क्षेत्र में चीन के कूटनीतिक वर्चस्व पर रोक लगाने के उपायों पर केंद्रित था। सुरक्षा की दृष्टि से यह क्षेत्र विशेष महत्त्व रखता है, लेकिन चीन राजनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण इस क्षेत्र में अपने प्रभुत्व का विस्तार करना चाहता है। अमेरिका चाहता है कि चीन को रोकने के लिए भारत खुलकर भागीदार बने। हालांकि प्रधानमंत्री मोदी ने इस बैठक में भारत-प्रशांत क्षेत्र को साझा वृद्धिवाला क्षेत्र बनाने की अपनी प्रतिबद्धता पर जोर दिया। उन्होंने इस त्रिपक्षीय बैठक में जापान, अमेरिका और भारत के नाम के पहले अक्षर को जोड़कर 'जय' नाम दिया। लेकिन भारत चीन के साथ त्रिपक्षीय संबंधों को सामान्य और बेहतर बनाना चाहता है।

रूस और उक्रेन के बीच चारी तनाव के कारण रूसी राष्ट्रपति पुतिन और अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रंप के बीच बातचीत नहीं हो सकी। इस शिखर सम्मेलन में रूस, चीन और भारत के बीच त्रिपक्षीय बातचीत हुई, जिसका भारत की विदेश नीति के लिए खास महत्त्व है। प्रधानमंत्री मोदी के साथ रूसी राष्ट्रपति पुतिन का पुराना रिश्ता है। पिछले दिनों पुतिन भारत की यात्रा पर आए भी थे। अमेरिकी दबाव के बावजूद भारत ने रूस के साथ सुरक्षा संबंधों को नया आयाम दिया था। यह सुरक्षा संबंध भारत की स्वतंत्र विदेश नीति का पुख्ता प्रमाण हैं। रूस, भारत और चीन के बीच हुई त्रिपक्षीय वार्ता में वैश्विक शांति और पारस्परिक सहयोग को बढ़ाने पर जोर दिया गया। इन तीनों देशों के बीच करीब बारह साल बाद त्रिपक्षीय वार्ता हुई है। इस त्रिपक्षीय वार्ता से इतर भी प्रधानमंत्री मोदी और चीनी राष्ट्रपति के बीच मुलाकात हुई। दोनों के बीच यह चौथी मुलाकात है। जब डोकलाम के कारण चीन के साथ संघर्ष की स्थिति बन गई थी। तब चीनी शहर वुहान में दोनों नेताओं के बीच अनौपचारिक बैठक हुई थी, और मोदी ने इस खतरे को टाल दिया था। दोनों नेताओं के बीच संघर्ष को युद्ध में नहीं बदलने की सहमति बनी थी। अभी कुछ दिन पहले भारत और चीन के अधिकारियों के स्तर पर सीमा विवाद को सुलझाने के मसले पर बातचीत हुई है।

प्रधानमंत्री मोदी ने चीनी राष्ट्रपति जिनपिंग के साथ मुलाकात के बाद कहा कि द्विपक्षीय संबंधों की दृष्टि से 2018 बहुत अच्छा रहा और अगला साल इसमें भी बेहतर होगा। उन्होंने चीनी राष्ट्रपति शी जिनपिंग को अगले साल यानी 2019 में अनौपचारिक वार्ता के लिए भारत आने के लिए आमंत्रित भी किया। चीनी राष्ट्रपति शी जिनपिंग को आमंत्रित करने के पीछे भी एक राजनीतिक संदेश छिपा है। भारत के लिए अगला साल चुनावी वर्ष है। दूसरा आशय यह हुआ कि प्रधानमंत्री मोदी का विदेशी मोर्चे की तरह आत्मविश्वास घरेलू राजनीति में भी दिखाई दिया। राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ के विधानसभा चुनावों के बीच उन्होंने जी-20 शिखर सम्मेलन के लिए पांच दिनों का समय निकाला। इन राज्यों के चुनावों को लोक सभा चुनाव का सेमीफाइनल माना जा रहा है। अगर इन तीनों में से किसी भी राज्य में भाजपा हारती है, तो विपक्ष भाजपा की उल्टी गिनती की शुरुआत कहकर प्रचार करना शुरू करेगा। इन बातों को नजरअंदाज करके जी-20 के शिखर सम्मेलन में जाना बताता है कि प्रधानमंत्री मोदी आगामी आम चुनाव जीतने को लेकर आत्मविश्वास से पूरी तरह लबरेज हैं।

ऐसा कर्ज तो किसान को डुबोएगा ही

सोमपाल शास्त्री, (पूर्व कृषि मंत्री)

शुक्रवार को अपनी मांगों के साथ देश भर के किसान एक बार फिर दिल्ली की सड़कें नापते रहे। बीते कुछ महीनों में यह तीसरा मौका था, जब वे अपनी खेती-किसानी छोड़कर अपने हक के लिए देश की राजधानी में थे। कर्ज माफी और फसलों के उचित दाम के अलावा उनकी एक प्रमुख मांग किसानों के मसले पर संसद का विशेष सत्र बुलाना भी है। इसके लिए उन्होंने देश की सबसे बड़ी पंचायत तक पैदल मार्च भी किया। मगर क्या संसद का विशेष सत्र वाकई अन्नदाताओं की मुश्किलें दूर कर पाएगा? आखिर कृषि से जुड़ा ऐसा कौन-सा मुद्दा है, जिससे अभी तक हमारी संसद अनजान है? और जब मुद्दे पुराने होंगे, तो हमारे नुमाइंदे भी संसद में शब्दों की नूरा-कुशती करते ही दिखेंगे।

एक संस्था के तौर पर संसद में बहुमत के आधार पर सारे फैसले होते हैं। आधार जैसे कई विधेयक हैं, जिन्हें 'मनी बिल' के रूप में संसद से पारित करा लिया गया, लेकिन किसानों की नहीं सुनी गई। किसानों की समस्या आज की नहीं है। यह स्थाई समस्या है, जिसका अब तक फौरी इलाज ही हुआ है। कोई दीर्घकालिक नीति नहीं बनाई गई। भूमि अधिग्रहण के ब्रिटिश कालीन कानून में 2013 में होने वाले संशोधन पर बहस को याद कीजिए। तब विपक्षी नेताओं का यह कहना था कि 'सामाजिक प्रभाव मूल्यांकन' के प्रावधान जब तक नहीं किए जाएंगे, हम इसे पारित नहीं होने देंगे, लेकिन जब वे खुद सत्ता में आए, तो इन्हीं मुद्दों से कन्नी काटने लगे। कई मामलों में कानून के प्रावधान कमजोर किए गए। इसका नुकसान भी किसानों को हुआ है।

कुछ दिक्कतें किसानों की तरफ से भी हैं। उनके कुछ सवालों का कोई औचित्य नहीं है। उन्हें समझना होगा कि अव्यावहारिक मांगों से आंदोलन ही कमजोर होता है। असल में, कर्ज-माफी की भी एक सीमा है। करदाताओं के पैसे से ही ऐसा किया जा सकता है। केंद्र सरकार के पास एक अन्य विकल्प रिजर्व बैंक को अतिरिक्त करेंसी छापने का निर्देश देना है। लेकिन इस कदम के नतीजे कहीं ज्यादा भयावह होंगे। लिहाजा किसानों की तरफ से ऐसी मांगें ही आनी चाहिए, जो व्यावहारिक हों और जिनको पूरा करना सत्ता-प्रतिष्ठान के लिए संभव हो। इस 'किसान मुक्ति मार्च' में देश के 206 किसान व खेतिहर मजदूर संगठनों ने हिस्सा लिया। इतने सारे किसान संगठनों का होना चौंकाता है। यानी हर राज्य और केंद्र शासित क्षेत्र से औसतन सात संगठन दिल्ली पहुंचे। तमाम संगठनों के अपने-अपने मुद्दे और हित हैं। जाहिर है, किसान अपने मुद्दों पर ही बंटे हुए हैं। अच्छा होगा कि वे पहले खुद एकमत हों, उनका एक संगठन बने। मांग-पत्र में व्यावहारिक सवाल शामिल किए जाएं और तब हुक्मरानों से अपने हित की बात की जाए।

देश में आज भी किसानों का बहुमत है। 52 फीसदी रोजगार खेती-किसानी में है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था उन्हीं पर टिकी है। लेकिन जब माताधिकार के इस्तेमाल की बारी आती है, तो किसान अपनी जरूरतों पर नहीं, जाति-धर्म जैसे गैर-जरूरी मसलों पर वोट डालते हैं। जाहिर है, जब प्रतिनिधियों का चुनाव ही मुद्दों पर नहीं होगा, तो फिर संसद में मुद्दों पर बहस की उम्मीद भला कैसे की जा सकती है? साल 2008 में भी यूपीए सरकार ने देश भर के किसानों का कृषि-कर्ज माफ

किया था। तब किसानों के लगभग 60 हजार करोड़ रुपये के कर्ज माफ किए गए थे। साल 2009 के आम चुनाव में इसका फायदा भी कांग्रेस को मिला। मगर सरकारी आंकड़े यह भी बताते हैं कि 1995 से 2015 के बीच तीन लाख से अधिक किसानों ने अपना जीवन खत्म किया है। वे फिर से कर्ज में डूब गए। इसीलिए, दिल्ली आए तमाम किसानों को इस सोच के साथ वापस लौटना चाहिए कि जो दल उनके मुद्दों पर जमीनी काम करेगा, वे चुनाव में उसी का साथ देंगे। अगर ऐसा हुआ, तो यकीन मानिए, चुनाव सुधार भी खुद-ब-खुद हो जाएगा। आज ऐसे तमाम उपाय हैं, जिनकी मदद से संसद सत्र के बिना भी किसानों के हित में काम किए जा सकते हैं।

आज जरूरत ऐसा माहौल बनाने की है कि किसानों को अक्वल तो कर्ज लेने की जरूरत ही न पड़े, और अगर लें, तो पूंजीगत कर्ज लें। ऐसा कर्ज, जो उनकी अर्जन क्षमता बढ़ाए। इसे दीर्घकालीन ऋण कहा जाता है। इसे सस्ता होना चाहिए। लेकिन हमारे यहां उल्टी रवायत चल रही है। इसी वजह से किसान बार-बार कर्ज के जाल में फंस रहा है। कुछ किसान तो सिर्फ कर्ज-माफी की सोचते हैं। उन्हें इसका लाभ मिलता भी है, क्योंकि चुनाव के समय उदार भाव से कर्ज माफ होते हैं। पहले कर्ज-माफी केंद्र सरकार ही किया करती थी, लेकिन अब राज्य सरकारें भी इस ओर बढ़ चली हैं। इस कारण समय पर कर्ज चुकाने वाले ईमानदार किसान ठगे रह जाते हैं। राज्य का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह उन लोगों को प्रोत्साहित करे, जो वैधानिक काम करते हों। मगर अब तो जिन किसानों ने जान-बूझकर कर्ज नहीं चुकाया, वही फायदे में रहते हैं। यह परंपरा बंद होनी चाहिए।

खेती-किसानी की जब कभी चर्चा होती है, तो स्वामीनाथन आयोग की दुहाई दी जाती है। यह रिपोर्ट अपने आप में पूर्ण नहीं है। मगर 'सी2' को लागत मूल्य के तौर पर लेना एक अच्छी सिफारिश है। इस पर अमल होना चाहिए। इसका अर्थ है कि कुल नकद लागत और किसान के पारिवारिक पारिश्रमिक के अलावा खेत की जमीन का किराया व कुल कृषि पूंजी पर लगने वाला ब्याज भी किसानों की कुल लागत में शामिल किया जाए, और उसी के हिसाब से न्यूनतम समर्थन मूल्य यानी एमएसपी घोषित हो। अभी एमएसपी घोषित करके भी उस मूल्य पर खरीदारी नहीं होती। गोदामों की कमी एक अलग ही बहाना है। लेकिन सरकार ने यदि एमएसपी घोषित किया है, तो बाजार में जिन्स के दाम गिरने पर उसे उसकी खरीदारी करनी ही चाहिए। जरूरत इसके लिए वैधानिक व्यवस्था बनाने की है। किसानों को इसका भी पर्याप्त फायदा मिलेगा।

Date: 01-12-18

उम्मीदें और निराशा

संपादकीय

कागज पर जो समीकरण हैं, उस हिसाब से यह मजमा सबसे महत्वपूर्ण होना चाहिए। अर्जेंटीना की राजधानी ब्यूनस आयर्स में इस समय जी-20 देशों का शिखर सम्मेलन चल रहा है। दुनिया के दो दर्जन से ज्यादा बड़े देशों के नेता अगर एक जगह जमा हों, तो उससे खासी उम्मीद बांधी जानी चाहिए। इसमें 19 देशों के अलावा यूरोपीय संघ एक इकाई की तरह शामिल है, और इसीलिए इसे जी-20 कहा जाता है। इसके अलावा कुछ ऐसे देशों के नेताओं को भी विशेष निमंत्रण के साथ बुलाया गया है, जो इस संगठन के सदस्य नहीं हैं। एक तरह से देखें, तो वहां दुनिया की 75 फीसदी आबादी का

प्रतिनिधित्व हो रहा है। ऐसे देशों के नेता वहां जमा हैं, जिनके कब्जे में दुनिया की 80 फीसदी अर्थव्यवस्था है। यह उम्मीद तो की ही जानी चाहिए कि ऐसे मंच पर जो फैसले होंगे, वे बहुत बड़े असर वाले होंगे। उनसे दुनिया का नक्शा भले ही न बदले, लेकिन उसकी चाल जरूर बदल सकती है। हर बार जब इसका शिखर सम्मेलन होता है, तो यही उम्मीद बांधी जाती है, लेकिन न सिर्फ जी-20, बल्कि ऐसे सारे संगठनों के शिखर सम्मेलनों से किसी बड़े बदलाव की खबर आनी अब बंद हो चुकी है।

हालांकि जी-20 की स्थापना 19 साल पहले ही हो गई थी, लेकिन इसकी सक्रियता ठीक तरह से दस साल पहले ही शुरू हुई। इसके पहले तक ज्यादा महत्वपूर्ण संगठन जी-7 (या जी-8) था। जी-7 का गठन पश्चिमी देशों ने किया था और इसका मकसद था दुनिया में वित्तीय स्थिरता कायम करना। हालांकि दस साल पहले जब आर्थिक मंदी ने दुनिया के द्वार खटखटाए, तो पता पड़ा कि जी-7 अपने बूते पर इसका मुकाबला करने में सक्षम नहीं है। बदली हुई दुनिया में भारत, चीन, ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका जैसे देश महत्वपूर्ण हो चुके थे और उनके बिना वित्तीय स्थिरता की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। यह भी सच है कि बाद में इन्हीं देशों ने दुनिया को मंदी की मार से बचाया भी। जो उम्मीदें किसी समय जी-7 से बांधी जाती थीं, अब जी-20 से बांधी जाती हैं। इस संगठन का घोषित लक्ष्य विकसित और विकासशील देशों को एक मंच पर लाना और दुनिया के आर्थिक मुद्दों पर आम राय बनाने की कोशिश करना है।

बेशक, यह बहुत आसान नहीं है। इस समय दुनिया में जो आर्थिक लड़ाई चल रही है और आर्थिक आधिपत्य की जो कोशिशें हो रही हैं, यह सम्मेलन उनसे मुंह चुराता दिख रहा है। वहां न अमेरिका के संरक्षणवाद की चर्चा है और न ही चीन के उस विस्तारवाद की, जहां वह आर्थिक मदद के नाम पर तमाम छोटे देशों के बाजार और राजनीति तक पर कब्जे की कोशिश कर रहा है। अंतरराष्ट्रीय मंचों की यही दिक्कत होती है कि वे एक समय के बाद महत्वपूर्ण मुद्दों से मुंह चुराने लगते हैं और औपचारिकता भर लगने लगते हैं। जो आज जी-20 में दिख रहा है, उसे हम संयुक्त राष्ट्र समेत कई मंचों पर देख सकते हैं। और जिन मंचों पर बड़ा फैसला करना जरूरी हो जाता है, वे मंच ही टूटते दिखने लगते हैं। यही हथ्र दुनिया की व्यापार वार्ताओं का हुआ और यही पर्यावरण बचाने की वैश्विक कोशिशों में होता दिख रहा है। अमेरिका ने तो खुद को पर्यावरण पर हुए पेरिस समझौते से अलग करने की बाकायदा घोषणा तक कर डाली है। इसलिए तमाम तनावों के बाद भी जी-20 जैसे सम्मेलन में दुनिया के बड़े नेता आपस में मिल-बैठ रहे हैं, यह भी कोई कम बड़ी बात नहीं है।

Warming Bells

Editorial

The 24th Conference of Parties (CoP) of the United Nations Framework Convention on Climate Change (UNFCCC), that begins tomorrow in the Polish city of Katowice, is the global climate forum's most significant meet after Paris, 2015. If the two-week long CoP accomplishes all that is on its table, it will have put together guidelines to operationalise the Paris Climate Change Agreement. This is significant

because the Paris process relies on countries to take the lead in global warming mitigation with Nationally Determined Contributions (NDCs). At Katowice, negotiators are slated to draft the rulebook that is essential to ensure that the pact's signatories are on track to achieve their commitments. The document will spell out how the signatories will report their global warming mitigation efforts, it will specify the yardsticks to chart their progress and elucidate what cooperation will look like in terms of providing support to countries in need of climate finance.

The process of drafting the rulebook has been a troubled one. The spirit of solidarity that swept the Paris summit has been witnessed only sporadically after the landmark pact was inked. There is no agreement within the UNFCCC on whether rules to track progress on NDCs should be common to all or split into differentiated versions for developed and developing countries. Climate finance to help developing countries meet their obligations remains a key sticking point. Developing countries argue that the rulebook should enjoin developed countries to report their climate financing commitments. Such reporting is crucial to help them plan effectively for climate action, they contend. Developed countries retort that the Paris Pact does not have such a mandate. Matters came to a head at Bangkok in September, when at a precursor meet to CoP 24, the group of Like Minded Countries — that includes India and China — made it clear that any progress at Katowice “will not be possible without any positive movement on finance”.

At the same time, much has happened outside UNFCCC fora, or on its sidelines, that offers reasons of hope. While climate diplomats have struggled to come to an agreement on thorny issues like tracking progress on NDCs and climate finance, renewable energy technologies have improved and become less expensive — especially in India and China. India and France have transcended the developed-developing country divide to helm the International Solar Alliance that could promote cooperation in solar technology development and further bring down the prices of renewable energy. At Katowice, negotiators should be guided by this spirit of cooperation.



THE HINDU

Date: 01-12-18

Neighbourhood first?

In a calibrated move, the Modi government is dialling down aggressive postures in bilateral ties

Suhasini Haidar

When Prime Minister Narendra Modi touched down in the Maldives in mid-November to attend the swearing-in of Ibrahim Mohamed Solih as the country's President, it was easy to count the “firsts” in his visit. Among them: this was Mr. Modi's first visit to the Maldives, the only country in South Asia he had not yet visited in his tenure, and the first by an Indian Prime Minister in seven years. The only time a visit by Mr. Modi had been planned, in 2015, he cancelled his travel plan abruptly, to register a strong protest at the treatment of opposition leaders, who are now in government. The one “first” that was not as prominent, however, was that despite inviting all South Asian Association for Regional Cooperation

(SAARC) leaders to his own swearing-in ceremony in May 2014, the Maldives visit marked the first time Mr. Modi attended the swearing-in ceremony of any other leader. The fact that he did, and chose to be one among the audience rather than on stage, may be a more visible sign of a new, softer neighbourhood policy than the one Mr. Modi's government has pursued in previous years.

All in 2018

The current year, 2018, has marked a year of reaching out in the region by the Modi government in general, with a view to dialling down disagreements that otherwise marked ties with major powers such as Russia and China. But while Mr. Modi's "Wuhan summit" with Chinese President Xi Jinping and the "Sochi retreat" with Russian President Vladimir Putin merited much attention, it is important to take stock of attempts at rapprochement in the immediate neighbourhood.

With Nepal, the government's moves were a clear turn-around from the 'tough love' policy since the 2015 blockade. Then, the government seemed to want nothing more than to usher Prime Minister K.P. Sharma Oli out of power. In 2018, however, when Mr. Oli was re-elected, despite his anti-India campaign, the Modi government wasted no time in reaching out and, in a highly unconventional move, despatched External Affairs Minister Sushma Swaraj to Kathmandu even before Mr. Oli had been invited to form the government. Since then, Mr. Oli has been invited to Delhi and Mr. Modi has made two visits to Nepal, with a third one planned in December to be part of the "Vivaha Panchami" festival. The frequency of visits in 2018 is in stark contrast to the three preceding years, when Mr. Modi did not visit Nepal at all.

Similar comparisons abound with India's reaction to major developments in the neighbourhood. In the Maldives, when emergency was declared by the previous regime of Abdulla Yameen, New Delhi made no attempt to threaten him militarily despite expectations of domestic commentators and Western diplomats. When Mr. Yameen went further, denying visas to thousands of Indian job seekers and naval and military personnel stationed there, New Delhi's response was to say that every country has a right to decide its visa policy.

With elections in Bhutan (completed) and Bangladesh (to be held in December), as well as the ongoing political crisis in Sri Lanka, India has chosen to make no public political statement that could be construed as interference or preference for one side over the other. Earlier this year, the government even allowed a delegation of the Bangladesh opposition to visit Delhi and speak at Bharatiya Janata Party (BJP)-affiliated think tanks, although it later deported a British QC lawyer for the Bangladesh Nationalist Party.

Perhaps the biggest policy shift this year was carried out as a concession to the Ashraf Ghani government in Kabul. After a policy of more than two decades of refusing to engage with the Taliban, or even sit at the table with them, in November India sent envoys to the Moscow conference on Afghanistan, where the Taliban's representatives were present. The U.S. chose to send a diplomat based in Moscow as an "observer", but the Indian delegation of former Ambassadors to the region represented non-official "participation" at the event. The shift was palpable. Earlier, the government had stayed aloof from the process, explaining that any meeting outside Afghanistan crossed the redline on an "Afghan-owned and Afghan-led solution".

While the change in position was eventually achieved by a high-level outreach by the Russian government, which has projected the conference as a big diplomatic success, India's participation had been nudged by President Ghani himself. He had made a strong pitch for backing talks with the Taliban

during a visit to Delhi in mid-September. Both in his meeting with Mr. Modi and in a public speech, Mr. Ghani had stressed that the Islamic State and “foreign terrorists” were the problem in Afghanistan, as opposed to the Afghan Taliban itself, and talks with them had the support of the Afghan people. Whatever India’s reservations may have been about the Taliban, the Modi government eventually decided to extend its participation to the Moscow event.

The Kartarpur link

Given the context, it may be possible to see the government’s latest shift, in sending two Union Ministers to Pakistan this week to join Prime Minister Imran Khan for the ground-breaking ceremony for the Kartarpur corridor, as part of the larger pattern of softening towards the neighbourhood. No Indian Minister has visited Pakistan since the Uri attack in September 2016, and after the cancellation of Foreign Minister talks at the UN this year, it was assumed that the government would not pursue conciliatory proposals with the new government in Islamabad. It is also significant that the BJP and the Prime Minister have chosen not to make Pakistan an electoral issue in the current round of State elections, as they did during last year’s Assembly polls. While it seems unlikely that the larger shift required for a Prime Ministerial visit to Pakistan for the SAARC summit is possible before elections next year, it is not inconceivable that people-to-people ties, of the kind Mr. Modi spoke of in his speech comparing the transformative potential of the Kartarpur corridor to the falling of the Berlin wall, will be allowed to grow.

All these moves lead to the question, why has the government decided to make the change from playing big brother in the neighbourhood to a more genial and avuncular version of its previous self? One reason is certainly the backlash it received from some of its smallest neighbours like Nepal and the Maldives, that didn’t take kindly to being strong-armed, even if New Delhi projected its advice to be in their best interests. Another could be the conscious rolling back of India’s previous policy of dissuading neighbours from Chinese engagement to now standing back as they learn the risks of debt-traps and over-construction of infrastructure on their own. India’s own rapprochement with China post-Wuhan in the spirit of channelling both “cooperation and competition together” has also led to this outcome.

Temporary or durable

It must be stressed, however, that retreating from an aggressive position must not give the impression that India is retrenching within the region, opening space for the U.S.-China rivalry to play out in its own backyard. The most obvious reason for the government’s neighbourhood policy shift of 2018, that resounds closer to the “neighbourhood first” articulation of 2014, is that general elections are around the corner. This leads to the question, is the new policy simply a temporary move or a more permanent course correction: Neighbourhood 2.0 or merely Neighbourhood 1.2.0?
